© 2015 IJSRST | Volume 1 | Issue 1 | Print ISSN: 2395-6011 | Online ISSN: 2395-602X
Themed Section: Science

महात्मा गाँधी का चम्पारण प्रवास और पर्यावरणीय दृष्टिकोण

पुष्पाजंली
शोध छात्रा, विश्वविद्यालय इतिहास विभाग, बी० आर० ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

पर्यावरण ही सृष्टि का आधारभूत जीवन सत्य है। प्रकृति में एक अद्भूत संतुलन विद्यमान है, इस संतुलन को ही पर्यावरण कहते हैं। अनेक व्यापक अर्थ में पर्यावरण जीवधारियों के चारों ओर का वह भौतिक आवरण है जो उनके जीवन संवर्द्धन को प्रभावित करता है और स्वयं भी उनके क्रियाकलापों द्वारा प्रभावित होता है। इसके अंतर्गत पृथ्वी, जल, वायु तथा वे सभी कारक आते हैं जो किसी जीवधारी के जीवन को किसी भी प्रकार से प्रभावित करते हैं। प्रकृति एवं मानव एक–दूसरे के पूरक हैं, प्रकृति से मानव ने बहुत कुछ प्राप्त किया है। मानव जीवन की वृद्धि, विकास और अस्तित्व के लिए पर्यावरण का महत्वपूर्ण स्थान है। मनुष्य के सभी क्रियाकलाप प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से पर्यावरण से संबंधित रहते हैं। इस भूतल पर उत्पन्न होने वाली वनस्पति तथा जीवन–जन्तुओं से अलग मानव का अस्तित्व नहीं है। मानव का भौतिक शरीर पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि और वायु नाम के पाँच तत्वों से बना है। जिन्हें हिन्दू धर्मशास्त्रों में पंचमहाभूत की संज्ञा दी गई है। इनमें सम्पूर्ण सामंजस्य मानव ही नहीं सम्पूर्ण जीव–जगत के लिए अपरिहार्य है।

भारत में कम्पनी राज कायम होने के बाद भी इस क्षेत्र की सामाजिक–राजनीतिक अवस्था पूर्ववत ही रही पर इसका आर्थिक स्वरूप, जो परम्परागत कृषि व्यवस्था पर आधारित था, पूर्णतः बदल गयी। अमेरीकी स्वतंत्रता संग्राम (1775–1783) के बाद, यूरोपिय बाजारों में नील की बढ़ती मांग ने, ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी की ध्यान नील के उत्पादन और तिजारत की ओर आकृष्ट किया। इस समय नील का व्यापार सर्वाधिक मुनाफा देने वाला व्यवसाय था। नील की अप्रत्याशित मांग को पूरा करने के लिए बंगाल तथा बिहार में नील की कई कोठियाँ स्थापित की गई।[1]

1782 से 1785 के बीच तिरहुत के कलेक्टर प्रेकोस ग्रेड के प्रयास से बिहार में नील उद्योग काफी विकसित हुआ। उसने यूरोपिय तरीके से नील का उत्पादन प्रारंभ कराया, नील कारखानों की स्थापना की तथा नील की खेती को प्रोत्साहित किया। चम्पारण में पहली कोठी 1813 में खुली। कालांतर में कुछ कोठियाँ पीपरा, तुरकौलिया, मोतिहारी तथा राजपुर में खुली।

1857 के विप्लव के बाद बंगाल के नदियों और यसोहर जिलों में, जहाँ बड़े पैमाने पर नील की खेती होती थी, रैयतों ने निलहे यूरोपियनों के विरूद्ध जबर्दस्त आंदोलन किया। सरकार के निलहे यूरोपियनों के अत्याचारों की जाँच के लिए जाँच आयोग बिठाया जिसने रैयतों के हित संरक्षण तथा निलहे यूरोपियनों और रैयतों के संबंध सुधारने के लिए कई सुझाव दिये। सरकार ने अधिकांश सिफारिशों को लागू करने में सक्रियता दिखलाई, फलतः बंगाल में बहुत हद तक निलहों पर प्रतिबंध लग गया। शोषण पर आधारित कृषि व्यवस्था का मूल आधार खिसक जाने के कारण, बंगाल के निलहों ने बिहार की ओर रूख किया और 1875 के आस–पास वे चम्पारण के लगभग हर कोने में बसने लगे।[2]

उत्तर बिहार में यूरोपीय निलहों के द्वारा नील की खेती दो प्रकार से करवाई जाती थी– जीरात तथा आसामीवार। जीरात के अंतर्गत यूरोपीय निलहें अस्थाई अथवा स्थाई पट्टे पर ली गई जमीन पर, अपने देख–रेख में रैयतों से खेती करवाते थे। आसामीवार व्यवस्था में रैयतों के द्वारा उनकी ही जमीन पर नील की खेती करवाई जाती थी। प्रारंभ में इस व्यवस्था के अंतर्गत रैयतों को बीघा पीछे पाँच कट्ठा जमीन पर नील की खेती करनी पड़ती थी। 1867 के बाद यह प्रतिशत कम कर दिया गया। अब बीघा पीछे तीन कट्ठा सबसे अच्छी भूमि पर रैयतों को नील बोनी पड़ती थी। यही व्यवस्था बाद में 'तीन कठिया' के नाम से प्रसिद्ध हुई। नील की कीमत का निर्धारण निलहें कोठीवाले करते थे।[3]

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अपनी पुस्तक 'चम्पारण में महात्मा गांधी में तीन कठिया व्यवस्था को रैयतों के अपार कष्ट का मुख्य कारण बताया है। डॉ. प्रसाद रैयतों के कष्ट का वर्णन 'आत्मकथा' के करते हुए लिखते हैं– 'किसी भी रैयत की हिम्मत नहीं थी कि वह नील बोने से इंकार करे। अगर कोई हिम्मत करता, तो उसपर हजार तरह के जुल्म करके उसको मजबूर कर दिया जाता। घर और खेत लूट लिए जाते, खेत मवेशियों से चारा दिये जाते, जुर्माना वसूल किया जाता, पीटा भी जाता। इस डर के मारे प्रायः सभी रैयत तीन–कठिया मानकर बीघा पीछे तीन कट्ठा नील बो दिया करते। उनके खेतों में जो सबसे बेहतर खेत होते, नीलबर उन्हीं को चुनकर नील बोने को कहते। जब नील तैयार हो जाता, तब उसे काटकर कोठी पर पहुँचा देना होता था। इसके लिए रैयतों को वे कुछ बीघा पीछे दिया करते थे, जो कभी–कभी खर्च के लिए भी पूरा नहीं होता था। सरकार के समर्थन से निलहे यूरोपियनों ने कुछ ऐसे कानूनों को बनवाने में सफलता प्राप्त कर ली थी, जिसके अनुसार वे अपनी जमींदारी के अंतर्गत बसने वाले रैयतों को नील बोने के लिए बाध्य कर सकते थे और अगर कोई इसमें मुक्ति चाहता तो उससे मनमाना मुआवजा वसूल सकते थे।'[4]

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में बेतिया तथा रामनगर राज को कर्ज दिलाकर, निलहे यूरोपियनों ने इन दोनों जमीदारियों को लीज पर ले लिया था। इस प्रकार चम्पारण के लगभग 46 प्रतिशत भूमि पर निलहों की जमींदारी कायम हो चुकी थी और वे इसका भरपूर इस्तेमाल अपने आर्थिक विकास के लिए कर रहे थे। संबंधित राज को मालगुजारी की निश्चित राशि देकर कोठीवाले अधीनस्थ किसानों से भरपुर धन वसूला करते थे।

जर्मनी में रसायनिक रंग का अविष्कार हो जाने के बाद, नील का महत्व तथा इसकी मांग अचानक घट गई तथा नील की खेती पहले की तरह लाभप्रद नहीं रही। निलहों ने धीरे–धीरे किसानों को नील की खेती से मुक्त करना प्रारंभ कर दिया पर इसके बदले वे लगान की दरों में काफी वृद्धि कर देते थे। जिन क्षेत्रों में नील की खेती नहीं होती थी, उसपर भी लगान में बढ़ोत्तरी की गई। कोठीवालों के अनीतिपूर्ण कार्यों को रोकने वाला कोई नहीं था। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में, उत्तर बिहार के स्थानीय प्रशासन पर निलहे बुरी तरह हावी थी, या यूँ कहें कि उत्तर बिहार पर निलहों का शासन था। चम्पारण के लगभग हर दस मील पर निलहों की कोठी थी और निलहें वहाँ के अघोषित सम्राट थे। कोठी के कारिन्दे लगाने के साथ तरह–तरह के अववाव वसूला करते थे, जो कई बार रैयतों की वार्षिक लगान से ज्यादा होता था।[4]

चम्पारण में नील की खेती के विरूद्ध पहला विद्रोह लालसरैया कोठी में हुआ। सन् 1867 में इस कोठी के रैयतों ने नील की बुआई बंद कर दी तथा आस–पास के गाँव वालों से भी नील की खेती न करने की अपील की। नीलहे साहबों ने सरकार से अनुरोध किया कि नील की खेती करने संबंधी लिखित अनुबंध का उलंघन करने वाले रैयतों पर कानूनी कार्रवाई करने के लिए मोतिहारी में एक ''स्मॉल कॉज कोर्ट'' की स्थापना की जाए। पटना के कमिश्नर ने यह जानते हुए कि अशांति का मूल कारण रैयतों की सबसे अच्छी जमीन का बेदखल हो जाना है, निलहे युरोपियनों के आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिए मोतिहारी में न्यायालय स्थापित करने की रजामंदी दे दी। फलतः बड़ी संख्या में रैयतों पर मुकदमें दायर किये गये और उन्हें सजा भुगतनी पड़ी। असहाय तथा असंगठित रैयतों के लिए एक साथ सरकारी कानून तथा निलहों का विरोध करना मुश्किल था, अतः उनकी आवाज दब गई। अपना दुर्भाग्य मान रैयत तो शांत हो गये किन्तु प्रांतीय सरकार ने महसूस किया कि यथाशीघ्र अगर रैयतों और निलहों के बीच बढ़ी हुई खाई को न पाटा गया तो भविष्य में कोई बड़ा उपद्रव संभव है कोठियों के प्रबंधक भी इस तथ्य से अवगत थे किन्तु उनकी धन लिप्सा रैयतों को किसी भी स्तर पर राहत देने के मार्ग में बाधक थी। प्रांतीय सरकार के दबाव और नीलवरों को अंततः नील की कीमत बढ़ानी पड़ी। साढ़े छः रूपये प्रति बीघा की कामत बढ़ाकर नौ रूपये कर दी गई।[5]

बंगाल सरकार नील की खेती से जुड़ी सभी समस्याओं पर विचार करने के लिए किसी आयोग के गठन से अधिक निलहे साहबों को उदार बनाने में सचेष्ट थी। दूसरी तरफ निलहों ने भी अशांति की संभावनाओं को टालने के लिए नील उत्पादकों के संगठन पर बल दे रह थी। इसी प्रयास के फलस्वरूप 1878 में ''बिहार प्लान्टर्स एसोसिएशन'' का गठन हुआ। इस संस्था ने अपनी पहली बैठक में ही नील की कीमत नौ रूपये से बढ़ाकर साढ़े दस रूपये कर दिया। पर इन प्रयासों का मनोवांछित लाभ न तो रैयतों को मिला न सरकार को और न निलहे साहबों को। चम्पारण में जमींदारों की जमींदारी ठेके पर ले लेने के कारण अब निलहे कोठी को स्थिति जमींदारों जैसे हो गई थी। 1888 में 14 कोठियों को चम्पारण का बहुत बड़ा इलाका मुकर्र बन्दोबस्ती में मिला। इस परिवर्तन से कोठी के कारिन्दों को व्यापक शक्तियाँ मिल गई थी, जिसका बेवजह इस्तेमाल कर वे आम किसान तथा रैयतों के आर्थिक शोषण तथा सामाजिक उत्पीड़न करने लगे। शोषण ने कई बार उग्र असंतोष ने कई बार हिसंक घटनाओं को जन्म दिया। सन् 1906 में तेलहाड़ा कोठी के रैयतों द्वारा मैनेजर ब्लूमफील्ड की हत्या इसी उग्र असंतोष का परिणाम था। 1907 में साठी भी आंदोलन का एक केन्द्र बना तथा यहाँ के रैयतों ने नील की खेती बंद कर दी। आंदोलन का नेता शेख गुलाम कोठी के द्वारा बिना सट्टा के कराये जाने वाली नील की खेती तथा पैन खर्च (पानी पटाने का शुल्क) का खुला विरोध कर रहा था। साठी के बगल में स्थित पर्सा कोठी भी 1908 में अशांत हो उठी। धीरे–धीरे यह अशांति भलहिया, परसा, कुड़िया तथा बैरिया के कोठी क्षेत्र में भी फैल गई। 16 अक्टूबर 1908 को रैयतों ने परसा कोठी में बलवा कर दिया। सरकार ने फौजी पुलिस भेज कर बलवा शांत करवाया। शीतल राय तथा राधुमल मारवाड़ी, जिनपर बलवा भड़काने का आरोप था, गिरफ्तार कर लिये गये। लूटपाट तथा कोठी में कार्यरत कर्मचारियों तथा सिपाहियों पर हमला करने के अपराध में लगभग 300 से अधिक अभियुक्तों को सजा हुई। राधुमल मारवाड़ी अपना अपराध स्वीकार कर 3000 रूपये हर्जाना पर छूट गया पर शीतल राय को ढ़ाई साल की सख्त कैद और 2000 रूपया जुर्माना भरने का आदेश हुआ।[6]

सरकार ने शांति बहाल होने के बाद, रैयतों की शिकायतों की जाँच के लिए बंगाल सरकार के कृषि विभाग के अध्यक्ष मिस्टर डब्लू० आर० गोरले को चम्पारण भेजा। अपनी जाँच के बाद गोरले ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की और कहा जाता है कि इसमें रैयतों की सारी शिकायतों को उचित तथा नीलहों को दोषी ठहराया गया था। शायद यही कारण था कि यह रिपोर्ट कभी प्रकाशित नहीं हो सकी। गोरले की रिपोर्ट मिलने के बाद सन् 1909 तथा 1910 में बंगाल के उप–राज्यपाल सर एडवर्ड बेकर ने नीलवरों के साथ दार्जिलिंग तथा पटना में बात–चीत की। नीलहों ने इस वार्तालाप के बाद नील की कीमत बढ़ाकर साढ़े बारह रूपये प्रति बीघा कर दिया तथा तीन कठिया व्यवस्था को समाप्त कर, दो कठिया प्रणाली लागू की।[7]

1911–12 में भारत आये इंगलैंड की साम्राज्ञी तथा बादशाह ने शिकार के लिये भिखनाढ़ोरी की यात्रा की थी। इस अवसर पर नरकटियागंज स्टेशन पर लगभग पन्द्रह हजार रैयतों ने इक्ट्ठा होकर, निलहे साहबों के शोषण से मुक्ति के लिए नारे लगाये।

स्थानीय भाषा से अनभिज्ञ बादशाह ने जब यह जानना चाहा कि लोग क्या कह रहे हैं, उपस्थित किसी अंग्रेज ने बताया कि ये जय–जयकार कर रहे हैं। इस प्रकार रैयतों ने बादशाह से जो उम्मीदें लगाई थी, वे धूल–धूसरित हो गई।

बंगाल से बिहार के अलग हो जाने के बाद चम्पारण के रैयतों की दशा पूर्ववत बनी रही। बिहार तथा बंगाल के समाचार–पत्र में यदा–कदा निकलने वाले लेखों का प्रभाव भी नगण्य रहा क्योंकि एक तरफ जहाँ ये निलहों के हाथों रैयतों के शोषण की करूण गाथा छापते थे, वहीं दूसरी तरफ इंडियन प्लैन्टर्स गजट में इसे झूठा और मनगढ़ंत बताया जाता था।[8]

यहाँ एक ऐतिहासिक सत्य को स्वीकार करने की आवश्यकता है कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में निलहें यूरोपियनों के द्वारा नील की खेती निरंतर घटती माँग के कारण स्वतः समाप्त की जा रही थी, जिसके कारण सारण, मुजफ्फरपुर, दरभंगा तथा मुंगेर की कई कोठियाँ बन्द हो चुकी थी। 1892 से 1897 के बीच जहाँ 91000 एकड़ भूमि में नील की खेती हो रही थी, वह 1914 तक घटकर 8100 एकड़ हो गई थी। नील की खेती का कोई बेहतर विकल्प न देख, निलहे अपनी पूँजी को कई माध्यमों से, जिनमें शहरवेशी, तावान, हुण्डा और हरजा शामिल था, निकाल लेना चाहते थे। प्रारंभ में मोतिहारी, तुरकौलिया, पीपरा, जलहाँ और सिरनी कोठी के प्रायः सभी रैयतों ने नील की खेती से छुटकारा पाने के लिए शहरबेसी स्वीकार कर ली, किन्तु जब उन्हें बढ़ी हुई दर से लगान जमा करना पड़ा तो बिदक गये। उन्होंने कहना शुरू किया कि नील की खेती के लिए तैयार है पर शहरबेसी के लिए नहीं। वे इस तथ्य से परिचित थे कि अब निलहे, किसी भी स्थिति में नील की खेती नहीं करना चाहेंगे। अतः इस मुद्दे पर उन्हें झुकने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। बदलते माहौल में रैयतों ने इस बात की हलचल मचाई कि शहरबेसी पर उनकी रजामंदी जबरन ली गई है। लोमराज सिंह ने लगभग सात सौ रैयतों को हस्ताक्षरयुक्त आवेदन–पत्र कमिश्नर को दिया था। पीपरा कोठी के मैनेजर मिस्टर ई० एन० नौरमन ने फौजदारी अदालत में लोमराज सिंह और उनके 14 रैयतों पर मानहानि का मुकदमा दायर किया। मजिस्ट्रेट मिस्टर एच० ई० बील ने सभी अभियुक्तों को छह महीने की सख्त सजा तथा 24000 रूपये जुर्माना की सजा सुनाई। बाद में रैयतों की अपील पर जिला जज ने मजिस्ट्रेट के दिये गये निर्णय को रद्द कर दिया।[9]

उत्तर बिहार में रैयतों की दुर्दशा पर 1914 के बिहार प्रांतीय सम्मेलन में ब्रजकिशोर प्रसाद ने ओजस्वी भाषण दिया तथा प्रस्ताव रखा कि सरकार सच्चाई का पता लगाने के लिए एक जाँच कमिटी गठित करे, जिसे बाद में स्वीकार कर लिया गया। कलकत्ता के समाचार–पत्र अमृत बाजार पत्रिका, भारतमित्र, कानपुर का प्रताप तथा प्रयाग के अभ्युदय ने भी इस विषय पर कई लेख छापे। 'बिहार' के सम्पादक महेश्वर प्रसाद ने भी 'बिहार में प्लान्टर्स और रैयत' शीर्षक पर कई लेख छापे, पर इन सबका कोई लाभ न हो सका। सरकार ने जाँच कमिटी के गठन में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। इसी बीच 17 जनवरी 1916 को प्रताप में 'प्रार्थना' शीर्षक के अंतर्गत एक सूचना छपी जिसमें जनता से यह अपील की गई थी कि चम्पारण में निलहे गोरों के अत्याचार से संबंधित जिसके पास जो भी सूचना अथवा सामग्री है वे उसे भेजे ताकि उपरोक्त विषय पर एक विस्तृत पुस्तक लिखी जा सके। इस सूचना के लिए बिहार पृथकरण आंदोलन से जुड़े नेताओं के प्रयासों तथा उलब्धियों की चर्चा करते हुए बिहारियों को शोषण के खिलाफ उठ खड़े होने की अपील भी की गई। इस नोटिस से निलहे यूरोपियनों में खलबली मच गई। बिहार सरकार ने प्रताप में छपी नोटिस को 'कानून व्यवस्था में खलल डालने वाला' तथा 'बगावत की भावना से परिपूर्ण' घोषित कर, जगह–जगह छापा मारकर इसकी प्रतियाँ जब्त कर ली गई। प्रताप ने अपने अगले संस्करणों में सरकार के इसकी कृत्य की कटु आलोचना की।[10]

आज पर्यावरण एवं प्राकृतिक संसाधनों के रक्षार्थ व्यापक शांतिप्रिय आंदोलन, जागरूकता अभियान, नए विकल्पों की खोज एवं नए जीवन दर्शन की खोज आदि के विधि प्रयास जारी हैं और इनमें गांधी जी की आवाज की प्रतिध्वनि नहीं सुनाई देती है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि गांधी जी द्वारा बताये गए मार्ग पर चलना कठिन है परन्तु असंभव नहीं। गांधी जी एक बहुत ही व्यावहारिक व्यक्ति थे, व्यवहार को स्थानीय आवश्यकताओं, चलन एवं बदलती हुई स्थितियों के अनुरूप होना चाहिए, उसके बिना न सामाजिक विकास हो सकता है और न ही पर्यावरण संरक्षण, यही उनके पर्यावरणीय चिंतन का सारतत्व है।

संदर्भ सूची :–

1. डॉ० अजीत कुमार, बिहार में अंग्रेजी राज और स्वतंत्रता आंदोलन, पृत्र 97।
2. पूर्वोक्त, पृ. वही।
3. पूर्वोक्त, पृ. वही।
4. पूर्वोक्त, पृ. 99।
5. पूर्वोक्त, पृ. वही
6. पूर्वोक्त, पृ. 101
7. पूर्वोक्त, पृ. वही
8. पूर्वोक्त, पृ. वही
9. पूर्वोक्त, पृ. वही
10- पूर्वोक्त, पृ. 102